संस्कृत साहित्य में नाटिका साहित्य

–मुलायम सिंह यादव एवं डॉ. लक्ष्मी देवी गुप्ता*
शोधछात्र– संस्कृत, वी.ब. सिंह पूर्वांचल वि.वि., जौनपुर
एसो.प्रोफे. एवम् अध्यक्ष : संस्कृत विभाग
गोविन्द बल्लभ पन्त स्नातकोत्तर महाविद्यालय, प्रतापगंज, जौनपुर (उ.प्र.)

दशरूपक के अनुसार नाटक और प्रकरण के मिश्रण को 'नाटिका' कहते हैं, जिसका नायक नाटक से लिया गया है और कथावस्तु प्रकरण से। अतः नाटिका के नायक इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति होते हैं। परन्तु इसका वृत्त कवि की कल्पना से प्रसूत होता है। नाटिका के प्रणयन का प्रारम्भ महाराज हर्षवर्धन (सप्तम शती) से होता है।

महाराज हर्षवर्धन की तीन रचनायें हैं–(1) प्रियदर्शिका, (2) रत्नावली तथा (3) नागानन्द। ये तीनों रूपक एक ही लेखक की रचनायें हैं इसमें सन्देह करने के लिए स्थान नहीं है। तीनों में घटनाओं का आश्चर्यजनक साम्य है। रत्नावली में सागरिका अपने चित्तविनोद के लिए राजा का चित्र खींचती है। नागानन्द में जीमूतवाहन उसी उद्देश्य से मलयवती का चित्र बनाता है। दोनों स्थानों पर चित्रों के द्वारा ही पात्रों के स्निग्ध हृदय तथा प्रणय की कथा का परिचय दर्शकों को मिलता है। रत्नावली में अपमानित होने पर सागरिका अपने गले में लतापाश से बाँधकर प्राण देने का उद्योग करती है। नागानन्द में भी यही घटना है– नायिका मलयवती प्रणय में अनादृत होने से लतापाश से अपने गले को जकड़कर मरने का प्रयास करती है। दोनों स्थानों पर नायक के द्वारा उनके प्राणों की रक्षा होती है। इतना ही नहीं, बहुत से पद्य इनमें परस्पर उद्धृत किये गये हैं। फलतः ये दोनों ही लेखक की लेखनी की सुचारु रचनायें हैं।

रत्नावली संस्कृत–साहित्य की प्रथम नाटिका है और बहुत ही सफल नाटिका है। शास्त्रीय पद्धति से नाटिका नाटक तथा प्रकरण के मिश्रण से उद्भूत एक सुन्दर नाटकीय रचना है, जिसमें नायक 'नाटक' की भाँति इतिहास तथा परम्परा में ख्यात होता है तथा कथानक 'प्रकरण' के तुल्य कवि–कल्पित रहता है। दोनों नाटिकाओं का नायक कौशाम्बी–नरेश वत्सराज उदयन है, जो प्राचीन इतिहास में अपने रोमांचक प्रणय के कारण ख्याति प्रख्यात है। दोनों का विषय कवि–कल्पित है। नाटिका की शास्त्रीय कल्पना कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' के आधार पर गढ़ी गयी प्रतीत होती है। इसलिए इन नाटिकाओं के ऊपर कालिदास के नाटक का प्रचुर प्रभाव खोजा जा सकता है, तथापि इनमें पर्याप्तरूपेण मौलिकता है।[1]

प्रियदर्शिका का सम्बन्ध भी उदयन के कथाचक्र के साथ है। यह भी चार अंकों की एक प्रणयनाटिका है। इसकी वस्तु उतनी सुन्दरता के साथ उपन्यस्त नहीं है उनमें उतनी चुस्ती तथा आकर्षण नहीं है। वत्स का सेनापति विजयसेन दृढ़वर्मा की पुत्री प्रियदर्शिका को दरबार में लाता है तथा आरण्यकाधिपति विन्ध्यकेतु की कन्या के रूप में वहाँ रख देता है। महाराज उसे वासवदत्ता को सौंप देते हैं, जो उसकी शिक्षा का प्रबन्ध करती है। द्वितीय अंक में राजा उदयन विदूषक के साथ उपवन में घूमने जाते हैं, जहाँ फूल चुनने के लिए आयी प्रियदर्शिका कमलों पर उड़ते हुए भौंरों से परेशान होती है और चिल्ला उठती है। राजा लताकुंज से प्रकट होकर उसे बचाता है। यहीं नायक का प्रथम दर्शन नायिका को होता है तथा अनुराग का बीज इतनी देर में

कवि यहाँ बोता है। तृतीय अंक में गर्भांक का सुन्दर निवेश है। मनोरमा (प्रियदर्शिका की सखी) तथा विदूषक की युक्ति से दोनों का सम्मिलन कल्पित किया जाता है। वासवदत्ता उदयन–चरित से सम्बद्ध नाटक का अभिनय करना चाहती है जिसमें मनोरमा का उदयन बनना है और आरण्यका (प्रियदर्शिका) को वासवदत्ता। बड़े कौशल से मनोरमा के स्थान पर स्वयं उदयन ही पहुँच जाता है। वासवदत्ता को संदेह होता है और मनोरमा की सारी चाल पकड़ ली जाती है। चतुर्थ अंक में वासवदत्ता इसलिए चिन्तित है कि उसका मौसा दृढ़वर्मा कलिंगराज के द्वारा बन्धन में पड़ा हुआ है। उदयन उसे छुड़ाने के लिए अपनी सेना भेजता है। दृढ़वर्मा का कंचुकी आता है और प्रियदर्शिका को पहचान लेता है जिससे वासवदत्ता उदयन के साथ उसका विवाह करा देती है।[2]

रत्नावली के चार अंक हैं। प्रथम अंक के आरम्भ में राजा का प्रधानामात्य यौगन्धारायण दैव की अनुकूलता तथा सहायता का संकेत करता है जिसके कारण उदयन के साथ परिणय के लिए आने वाले सिंहलेश्वर की राजकन्या रत्नावली जहाज के डूब जाने पर भी बच जाती है तथा वह मन्त्री के पास किसी सामुद्रिक बनिये के द्वारा लायी जाती है। मन्त्री उसे सागरिका के नाम से वासवदत्ता की देख–रेख में रख आता है। कामदेव के उत्सव के प्रसंग में वासवदत्ता कामवपुः राजा उदयन की ही सद्यः पूजा करती है जिसे पेड़ों की झुरमुट से छिपे तौर पर सागरिका प्रथम बार देखती है, उन्हें कामदेव समझती है और प्रणय के मधुर भाव के अंकुरण के लिए पात्र बनाती है। द्वितीय अंक में सागरिका अपनी सखी सुसंगता के साथ चित्तविनोद के लिए राजा का चित्र अंकित करती है जिसके पास सुसंगता सागरिका का ही चित्र खींचकर उसे रतिसनाथ बना देती है। कुछ गुप्त प्रणय की भी चर्चा है। इसी हल्लागुल्ला में ये दोनों भाग खड़ी होती हैं। चित्रफलक वहीं छूट जाता है और राजा के हाथ में पड़ने से वह गुप्त प्रेम के प्रकटन का साधन बनता है। इस प्रेम के प्रसारण में सागरिका का भी कुछ हाथ है। तृतीय अंक में इस नाटिका का हृदय है तथा कवि की मौलिक सूझ का उज्ज्वल उदाहरण है। वेष–परिवर्तन से उत्पन्न भ्रान्ति के कारण जायमान घटना–सांकर्य बड़ा ही सुन्दर है तथा शेक्सपीयर के 'कॉमेडी आफ ऐरर्स' नामक नाटक के समान है। सागरिका वासवदत्ता का तथा सुसंगता दासी काञ्चनमाला का वेष धारण कर राजा से पूर्व निश्चय के अनुसार मिलने आती है, परन्तु असली वासवदत्ता के इनके पहले ही आ जाने के कारण सारा गुड़ गोबर हो जाता है। असली और नकली का विभेद बड़ी ही हास्यजनक स्थिति पैदा करता है जिससे अपमानित मानकर सागरिका लतापाश के द्वारा मरने जाती है, परन्तु राजा उसे बचाता है। चतुर्थ अंक में जादूगर के 'अग्निदाह' का प्रभावशाली दृश्य है। सागरिका भूगर्भ में कैदकर रखी गयी है। वह वहाँ से बचाकर सभा में लायी जाती है जहाँ उसके पिता के मन्त्री वसुभूति तथा कंचुकी वाभ्रव्य उसे विदूषक के गले में लटकने वाली 'रत्नावली' की सहायता से पहचानते हैं तथा वासवदत्ता स्वयं प्रसन्न होकर अपनी भगिनीभूता रत्नावली से राजा का विवाह करा देती है। यही मंगलमय अवसान है।[3]

नागानन्द में पाँच अंक हैं। यह किसी बौद्ध अवदान के ऊपर आश्रित है। प्रथम अंक में जीमूतकेतु का आश्रय में जाना तथा उनके पुत्र जीमूतवाहन का भी पितृदत्त राज्य का परित्याग कर वहीं सेवार्थ जाना और गौरी के मन्दिर में मलयावती के वीणावादन से उसके हृदय में अनुराग का संचार वर्णित है। द्वितीय अंक में जीमूतवाहन तथा मलयवती के आनन्ददायक विवाह

का विस्तृत वर्णन है। तृतीय अंक भी विवाह–कथा से ही सम्बद्ध है। चतुर्थ अंक में राजकुमार जीमूतवाहन का समुद्रतीर पर आना तथा प्रतिदिन एक नाग का गरुड़ के लिए भोजन बनने की बात वर्णित है। उस दिन अपनी माता के एकलौते पुत्र शंखचूड़ की बारी थी। उसकी माता के करुण रोदन से द्रवीभूत जीमूतवाहन स्वयं उसके स्थान पर गरुड़ का भोजन बनने जाता है, शंखचूड़ राजी नहीं होता, परन्तु उसकी क्षणिक अनुपस्थिति में जीमूत अपने शरीर को रक्तवस्त्र से ढँककर शिला पर बैठ जाता है। गरुड़ आकर अपनी चोंच से उसे पहाड़ के शिखर पर उठा ले जाता है तथा खाता है। जीमूत दृढ़ है, उसके इस त्याग पर पुष्पवृष्टि होती है। पंचम अंक में माता–पिता व्याकुल होकर जीमूत के समाचार के लिए सेवक भेजते हैं। शंखचूड़ से पूरी घटनाओं का पता चलता है। गरुड़ को भी इस नाग की दृढ़ता पर आश्चर्य होता है। वह पूरा हाल पूछता है तथा नागों के न खाने की प्रतिज्ञा कर वह जीमूत के खाने से विरत होता है। मंगल के साथ नाटक समाप्त होता है।[4]

रत्नावली की प्रसिद्धि अपने गुणों के कारण प्राचीनकाल से ही अक्षुण्ण चली आ रही है। शास्त्रीय पद्धति पर निर्मित एक सम्पूर्ण रूपक के रूप में इसकी ख्याति का पता हमें 'दशरूपक' के विशिष्ट विश्लेषण से चलता है। धनंजय ने इसकी कथावस्तु का विस्तृत तथा विशद विश्लेषण 'दशरूपक' में किया है। विश्वनाथ कविराज ने भी सन्धियों तथा सन्ध्यंगों के दृष्टान्त देने के लिए इसे ही विशेषतया चुना है। यह न समझना चाहिए की नाटकीय विधिविधानों को प्रदर्शित करने के लिए ही हर्ष ने रत्नावली की रचना की। यदि ऐसा होता तो वह नाटिका साधारण कोटि की ही ठहरती है, परन्तु तथ्य यह नही है। हर्ष ने एक आदर्श कथानक को लेकर एक भव्य रूप दिया है जिसके विश्लेषण करने से नाट्यशास्त्र के अनुसार वस्तु की पाँचों सन्धियाँ यहाँ स्पष्ट रूप से उपस्थित हैं। रत्नावली नाटिका का बीज वत्सराज के द्वारा रत्नावली की प्राप्ति का कारणभूत अनुकूल दैव है, जो राजा के अनुराग को बढ़ाने में सहायक होता है। इस प्रकार प्रथम अंक में अनुराग–बीज का प्रक्षेप है और यहाँ मुख–सन्धि भी वर्तमान है। बिन्दु का उपक्षेप 'अस्तायास्तसमस्तभासि नभसः पार प्रयातै रवौ' वाले श्लोक में है। प्रतिमुखसंधि द्वितीय अंक में आती है, जहाँ वत्सराज और सागरिका के मिलन के लिए उद्योगशील सुसंगता और विदूषक उस अनुराग का अनुमान करती है। इस प्रकार दृश्य और अदृश्यरूप से विकसित होने के कारण इस अंक में प्रतिमुख सन्धि है। गर्भ–सन्धि तृतीय अंक में है, जहाँ वेश बदलकर सागरिका के अभिसरण से राजा के हृदय में उसकी प्राप्ति की आशा बँध जाती है, परन्तु वासवदत्ता के अडंगा लगा देने से उस आशा पर पानी फिर जाता है। अवमर्ष–सन्धि रत्नावली के चतुर्थ अंक में आग लगने तक के कथानक तक है, क्योंकि यहाँ वासवदत्ता की प्रसन्नता हो जाने से रत्नावली की प्राप्ति में किसी प्रकार का विघ्न दृष्टिगोचर नहीं होता। निर्वहणसन्धि चतुर्थ अंक के अन्त में अर्ध में है, जहाँ वसुभूति तथा बाभ्रव्य के साक्षात् प्रमाण एवं विदूषक के गले में विद्यमान रत्नावली को देखकर सागरिका के सच्चे रूप का बोध होता है तथा राजा को उससे मिलन सम्पन्न होता है।[5]

विल्हण की 'कर्णसुन्दरी' नाटिका 1080 ई. और 1090 ई. के आसपास की रचना है। विल्हण अपने महाकाव्य के लिए प्रसिद्ध हैं। इस नाटिका के चार अंक हैं। इसमें 'अणहिलवार' के राजा कर्णदेव त्रैलोक्यमल्ल (ई. 1064–1094) की वृद्धावस्था में कर्णाटक के राजा जयकेशी की कन्या से विवाह सम्पन्न होने का वर्णन है। कथानक का प्रदर्शन विद्धशालभंजिका से मिलता है।

इसका ऐतिहासिक महत्त्व मननीय है। विल्हण ने अपने जन्मस्थान कश्मीर को 1026–65 ई. के बीच में कभी छोड़ा तथा 'विक्रमाप्रदेवचरित' महाकाव्य का प्रणयन 1085 ई. के आसपास किया। कश्मीर से चलकर वह मथुरा, कन्नौज, प्रयाग तथा काशी होते हुए चेदिनरेश कर्ण के दरबार में ठहरे। अनन्तर गुजरात के मुख्य नगर अणहिल्लपुर पाटन में चालुक्यनरेश कर्ण त्रिभुवन मल्ल (1064–1094 ई.) के दरबार में 1070 ई. के आसपास आये और इन्ही की प्रशस्ति में उन्होंने कर्णसुन्दरी नाटिका का प्रणयन किया। इस नाटिका के नायक स्वयं भीमदेव के पुत्र कर्ण ही हैं, जो विशेष प्रख्यात चालुक्यनरेश जयसिंह सिद्धराज के पूज्य पिता थे। यह नाटिका रत्नावली के द्वारा प्रभावित है। इसमें कर्ण का विवाह किसी विद्याधर की राजपुत्री से सम्पन्न किया गया है। विद्वानों की मान्यता है कि यह राजपुत्री दक्षिण कादम्बवंश की राजपुत्री 'मयणल्ला' से भिन्न नहीं है, जिसका वर्णन हेमचन्द्र ने अपने 'द्व्याश्रय' महाकाव्य के नवम सर्ग में लगभग चौरासी श्लोकों में किया है। सांस्कृतिक संश्लेष की दृष्टि से यह ध्यान देने की बात है कि इस नाटिका का प्रथम अभिनय किसी जैन–मन्दिर में राजा के जैन महामात्य संपतकर ;लोकप्रिय नाम सॉंतू मेहताद्ध के द्वारा प्रवर्तित ऋषभदेव (प्रथम तीर्थंकर) के यात्रामहोत्सव के अवसर पर सम्पन्न हुआ था। यह इस बात का उज्ज्वल प्रमाण है कि मध्ययुग में शुद्ध साहित्य के संवर्धन में किसी प्रकार का धार्मिक पक्षपात न था तथा मध्ययुग में भारतवर्ष के प्रान्तों में विभिन्न प्रान्तीय विद्वानों के आवागमन परस्पर ज्ञान की वृद्धि के लिए होता था। कश्मीर तो इसके लिए नितान्त प्रख्यात विद्या–केन्द्र था, जहाँ भारत के विभिन्न प्रान्तों से विद्वान् अपनी ज्ञानपिपासा को शान्त करने के लिए जाया करते थे। कर्णसुन्दरी एक पूरी नाटिका है– चार अंकों में विभक्त तथा रत्नावली की शैली पर निर्मित। इसकी रचना विक्रमाप्रदेवचरित के प्रणयन से पूर्ववर्ती है।

धारा के परमारनरेश अर्जुनवर्मा के गुरु मदनपाल सरस्वती ने 'विजयश्री' या 'परिजातमंजरी' नामक नाटिका लिखी है। इस नाटिका में भी चार अंक हैं जिसके केवल दो अंक धारा में शिला पर उट्टंकित होने से सुरक्षित हैं। इस नाटिका का समय 13वीं शताब्दी का प्रारम्भ है। अर्जुनवर्मा ही इसके नायक हैं। कवि ने दिखलाया है कि जब माला गिरी और गिरते ही वह एक सुन्दरी के रूप में परिणत हो गयी। यह सुन्दरी चालुक्य नरेश की कन्या थी और इसी से राजा का विवाह हुआ। नाटिका का यही कथानक है। इसमें कुछ ऐतिहासिक तथ्य भी साधार प्रतीत होते हैं।

मथुरादास ने राधाकृष्ण के प्रेम को 'वृषभानुजा नाटिका' में बड़ी सुन्दरता से दिखलाया है। इस नाटिका के रचयिता गंगा के तीरस्य सुवर्णशेखर नामक स्थान से कायस्थ थे। राधा कृष्ण के हाथ में किसी सुन्दरी का चित्र देखकर उनसे मान कर बैठती है। पीछे देखने पर यह राधा का ही चित्र निकलता है। यही वृत्तान्त इस नाटिका में दिखलाया गया है। विल्हण की 'कर्णसुन्दरी' कवि की प्रसिद्ध उदात्त शैली में लिखी गयी है जिसका निदर्शन में 'विक्रमाप्रदेवचरित' में मिलता है। 'वृषभानुजा' नाटिका की भाषाकर्णसुन्दरी से अपेक्षाकृत सरल है। मथुरादास की पदावली अत्यन्त कोमल है, जो राधा–कृष्ण की लीलाओं का वर्णन के लिए नितान्त उचित है।

मथुरादास की कविता में साहित्यिक चमत्कार पदे–पदे उपलब्ध होते हैं। वे कोमलकान्त पदावली के प्रयोक्ता मधुर कवि हैं, परन्तु स्थानों के वर्णन में लच्छेदार समास गठित वाक्यविन्यास के प्रेमी हैं जिस पर बाणभट्ट की शैली का स्पष्ट छाया है। राधाकृष्ण के

अलौकिक प्रेम का प्रदर्शन ही उनकी नाटिका का प्रधान लक्ष्य है और इस कार्य में वे सर्वथा सफल हैं। राधा को कवि पुष्पों का संचय बतलाता है–

इदं मधुरगीतिभिर्मधुकरांगनानां सखे
कलापिकुलनर्तितैः प्रियकदम्बकोलाहलैः।
लतानववधूलसत्–किसलयानुरागोद्गमे–
र्ममाऽऽगमनमंगलं परितनोति मन्ये वनम्।।

श्रीकृष्ण के विरह में राधा की विरहदशा का भी वर्णन कवि ने विस्तार से किया है। कवि को प्रेम का वर्णन भी अभीष्ट है। नाटिका का आश्रयण तो इस मुख्य वस्तु के चित्रण के लिए ब्याजमात्रेण लिया गया है। विश्वनाथ कविराज की 'चन्द्रकला' रत्नावली को आदर्श मानकर लिखित एक मनोरम नाटिका है जिसकी भाषा तथा वर्ण्य विषय दोनों ही रोचक हैं। अभिनेयता गुण में भी यह अप्रतिम है।

सन्दर्भ सूची–

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास, बलदेव उपाध्याय, पृ. 526–27
2. उपाध्याय, पृ. 526–27
3. उपाध्याय, पृ. 526–27
4. उपाध्याय, पृ. 526–27
5. उपाध्याय, पृ. 526–27